
इकाई 5 स्वतन्त्र शोध पर पाश्चात्य प्रतिबन्धक तत्त्वों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

इकाई की रूपरेखा

- 5.0 उद्देश्य
- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 सुकरात के चिन्तन एवम् उनके प्रतिबन्धक तत्त्व
 - 5.2.1 सुकरात के युग की समस्या
 - 5.2.2 ज्ञान एवं सत्य से सम्बन्धित सुकरात के विचार
 - 5.2.3 धर्म एवं नैतिक प्रत्ययों से सम्बन्धित सुकरात के विचार
- 5.3 स्वतन्त्र अन्वेषण एवं मध्ययुगीन पाश्चात्य प्रतिबन्ध
- 5.4 पुनर्जागरण के अग्रदूत एवं पाश्चात्य प्रतिबन्धक तत्त्व
 - 5.4.1 निकोलस कोपरनिकस के शोध एवम् उसका विरोध
 - 5.4.2 त्रिरीोदानो ब्रनो के शोध एवम् उसका विरोध
 - 5.4.3 गैलीलियो गैलीलाई के खोज एवम् उनका विरोध
- 5.5 आधुनिक पाश्चात्य काल में स्वतन्त्र चिन्तन एवं प्रतिबन्धक तत्त्वों में बदलाव
- 5.6 समकालीन पाश्चात्य परम्परा में स्वतन्त्र चिन्तन के आयाम एवं प्रतिबन्धकों में बदलाव
- 5.7 सारांश
- 5.8 पारिभाषिक शब्दावली
- 5.9 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री
- 5.10 बोध प्रश्न

5.0 उद्देश्य

- इस इकाई के अन्तर्गत स्वतन्त्र शोध के प्रत्यय पर विचार प्रस्तुत करते हुए सम्पूर्ण पाश्चात्य चिन्तनधारा में स्वतन्त्र शोध एवम् तत्बोध हेतु किये गये उपबन्धों का विश्लेषण प्रस्तुत करना है।
- यहाँ इस बात की आवश्यकता पर बल दिया जायेगा कि ज्ञान की खोज की पूरी पाश्चात्य परम्परा में कहाँ स्वतन्त्रता प्राप्त थी, क्या उसकी सीमाएँ निर्धारित कर दी गई थीं या तत्कालीन विभिन्नप्रतिबाधकों के द्वारा चिन्तन को प्रतिवारित करने का प्रयास किया गया था? इन्हींप्रश्नों के उत्तर स्वरूप प्राप्त विषयवस्तुओं का एक तार्किक एवम् ऐतिहासिक सर्वेक्षण कर विश्लेषण करना एवम् एक सन्तुलित निष्कर्ष पर पहुंचने का प्रयास करना है।

5.1 प्रस्तावना

किसी भी परम्परा में ज्ञान निर्मिती, उसकी प्राप्ति एवम् उसके प्रसारण की प्रक्रिया एवम् इनसे बने इतिहास का अध्ययन ही उस परम्परा की ज्ञानमीमांसा का सम्पूर्णता में निर्माणक होता है। पाश्चात्य परम्परा में ज्ञान को सत्य, प्रामाणिक एवं विश्वसनीय तो

माना जरूर गया, परन्तु इसके ऐतिहासिक काल-क्रम को देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है किज्ञान का सर्जन, खोज एवं प्रसारण, विभिन्न शक्तों एवं प्रतिबन्धकों के कारण कभी भी पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं रहा है जिससे स्वतन्त्र शोध एवं तत्त्वोद्घोष की बड़ी समस्या रही है। स्वतन्त्र शोध के साथ-साथ स्वतन्त्र बोध श्रेय है, परन्तु स्वतन्त्र शोध पर किसी भी प्रकार का प्रतिरोध या प्रतिशोध वरेण्य नहीं हो सकता। अतएव ज्ञान हेतु स्वतन्त्र शोध के सम्बन्ध में प्रतिबन्धकों के अध्ययन का तात्पर्य उस परम्परा में सत्य प्रामाणिकता एवं विश्वास का अवगाहन होता है। पाश्चात्य ज्ञान परम्परा की चिन्तनधारा के सर्वेक्षण से यह ज्ञात होता है कि ज्ञान में विश्वास एवम् आस्था को पर्याप्त स्थान प्राप्त हुआ, परन्तु ज्ञान के सत्य होने एवं प्रामाणिक होने के लिए विभिन्न काल-क्रमों में अलग-अलग सन्दर्भों को लेकर प्रतिबन्धकों की उपस्थिति के कारण ज्ञान एवं शोध की प्रस्थापना के लिए एक गहन संघर्ष की स्थिति रही। उन परिस्थितियों में प्रतिबाधकों एवम् उनके विरुद्ध ज्ञानानुयायियों के संघर्षों का व्यवस्थित, ऐतिहासिक एवम् अवधारणात्मक वर्गीकरणों के आधार पर एक समग्र दृष्टि का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाना अनिवार्य है, जिसमें प्राचीन पाश्चात्य चिन्तन परम्परा एवं दर्शन में सुकरात पूर्व दार्शनिकों एवं सुकरातोत्तर युग में ऐसे अनेक चिंतकों से लेकर मध्य युग, आधुनिक युग एवं समकालीन दार्शनिकों के विचारों का पर्यवेक्षण एवं अनुशीलनोंपरान्त यह जानने से स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान के स्वतन्त्र शोध की समस्या पर सत्य एवं प्रामाणिकता की समस्या रही है। अतः प्रतिबाधकों के अध्ययन एवं विश्लेषण हेतु केन्द्रीय विचार के रूप में ज्ञान के इन्हीं आयामों पर विभिन्न काल-खण्डों के सापेक्ष निम्नवत् विचार प्रस्तुत है:

5.2 सुकरात के चिन्तन एवम् उनके प्रतिबन्धक तत्त्व

सुकरात यूनान के एक महान् चिन्तक थे जिनका जन्म एथेंस नगर में 470 ई० पू० में हुआ था। कुछ विद्वानों के अनुसार सुकरात के ऐतिहासिक व्यक्ति होने पर प्रश्न है, लेकिन यह प्रश्न तब कमजोर पड़ जाता है, जब उनकी चर्चा एक दार्शनिक या विचारक सुकरात के सम्बन्ध में होते लगती है। यह बात उनके शिष्य प्लेटो के द्वारा रचित संवादों (डायलॉग्स) से स्पष्ट हो जाती है। आगे भी हम देखने का प्रयास करेंगे कि सुकरात का यही गंभीर एवं नवोन्मेषी चिंतन प्रणाली मानव के व्यापक हित के बाद भी उनके जीवन को कैसे संकटाकीर्ण कर दिया जो उस समय के प्रतिगामी शासन एवं चिंतन के दुष्परिणाम-स्वरूप सुकरात के इहलीला की समाप्ति की कहानी बना।

5.2.1 सुकरात युग की समस्या

जिस युग में सुकरात पैदा हुए थे वह भौतिक चिंतकों एवं सोफिस्टों का युग था।थेलीज, एनेक्जिमेण्डर, एनेक्सीमेनीज, पाइथागोरस, जेनोफेनीज, हेराक्लाइटस, पारमेनाडिस एवं डेमोक्रीटस इत्यादि पूर्ववर्ती चिंतकों ने भौतिकता पर जोर दिया जबकि इनके प्रयोजनमूलकता पर विचार सर्वप्रथम सुकरात ने शुरू की। इनके अतिरिक्त सोफिस्ट दार्शनिकों में प्रोटागोरस एवं गार्जियस आदि ने जिस तरह से वितण्डावादी तर्कों के द्वारा जनमानस की ज्ञान परम्परा को प्रभावित किया था, वह अत्यन्त ही हेय एवं दुःखद स्थिति में डालने वाली थी। सोफिस्ट मुख्यतः तीन प्रकार के थे। पहले वे जो वाक्पटु थे एवं भोग की वस्तुओं एवं राजसत्ता की प्राप्ति हेतु सतत प्रयत्नशील रहते थे। दूसरे, वे थे जो ज्ञान को आधार बताकर समझ विकसित करने का प्रयास करते थे। शिक्षावृत्ति के द्वारा जीवन-यापन करना चाहते थे। परन्तु उनकी शिक्षाएँ कमजोर, खण्डनीय एवं कुतर्कों पर आधारित हुआ करती थीं। तीसरे, वे

सोफिस्ट चिन्तक थे जो कविताओं, पहेलियों, द्वन्द्वन्याय आदि के द्वारा समाज में सम्मान एवं वर्चस्व बनाये रखने का प्रयास करते थे। इनकी मूल मान्यताएँ निम्नवत् थीं।

- 1) मनुष्य सभी वस्तुओं का मापदण्ड है।
- 2) सत्य व्यक्ति सापेक्ष है।
- 3) किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है।
- 4) यदि है भी तो उसे हम जान नहीं सकते।
- 5) यदि उसे जानें भी तो उसका ज्ञान दूसरे को नहीं करा सकते।

सोफिस्टों की उपर्युक्त मान्यताएँ ही सुकरात के चिन्तन की समस्या थी क्योंकि इस प्रकार की ज्ञानमीमांसा के द्वारा न तो सत्य का एक सम्यक् रूप बनाया जा सकता था और न ही नैतिक जीवन के आधार के रूप में सदाचारों की उपयुक्त व्याख्या सम्भव थी। अतः सुकरात ने गंभीरता से इन प्रश्नों की प्रकृति एवं प्रवृत्ति पर विचार किया तथा इसके स्थानापन्न सिद्धान्तों की खोज की। उपयुक्त मान्यताओं के मानने के कारण सामाजिक जीवन में सहभाव एवं शान्तिप्रिय जीवन की स्थापना सम्भव न थी। इसलिए सुकरात ने उन्हें अस्वीकृत कर एक सार्वजनिक एवं तर्काधारित वैध निष्कर्षों से युक्त ज्ञान का आविष्कार करना चाहते थे जो स्वयं सद्गुण भी हो। उनकी घोषणा थी— 'सद्गुण ही ज्ञान है' सोफिस्ट चिन्तक अपनी स्थापनाओं को फलवादी दृष्टि से देखते थे। उनका मानना था कि उक्त मान्यताओं के आधार पर ही जीविका का निर्वहन होना चाहिए जबकि सुकरात ने इन दृष्टियों एवं मान्यताओं में त्रुटि को दिखाकर इनका खण्डन कियायहीं से सुकरात के अकाट्य तर्कों से पराजित होने के पश्चात् उनकी शत्रुता, अन्य कुटनीतिक एवं सत्ता के लालची चिन्तकों—वचकों से बढ़ने लगी। यहाँ हम सर्वप्रथम इन सोफिस्ट मान्यताओं का विश्लेषण करेंगे जिन्हें सुकरात ने बदलने या छोड़ देने की वकालत की थी।

सुकरात के अनुसार यदि मनुष्य को सभी वस्तुओं का मापदण्ड मान लिया जाय तो एक गंभीर नैतिक—सामाजिक समस्या उत्पन्न हो जायेगी क्योंकि इस जगत् में मनुष्य सर्वाधिक बुद्धिमान प्राणी हो सकता है, परन्तु इनके संचालन हेतु सभी विधानों का आधार नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो जाय तो मनुष्य अपने स्वार्थ एवम् आधिपत्यात्मकता के शिखर तक जाकर नियमों का उल्लंघन करने वाला एवं स्वेच्छाचारी हो सकता है। यह उसे एक अनियन्त्रित करने वाली शक्ति से जोड़ देने जैसा होगा और ऐसे में इस समाज एवं सम्पूर्ण जगत् का सन्तुलन बिगड़ सकता है। अतः मापदण्ड के तौर पर एक ऐसी शक्ति या सिद्धान्त का होना आवश्यक है, जिसमें स्वयं के साथ—साथ अन्यो के नियन्त्रण करने तथा नैतिकता का सर्वोच्च आदर्श प्रस्तुत करने, उसे धारण की क्षमता प्राप्त हो और ऐसी क्षमता किसी भी एक मनुष्य या कई मनुष्यों को मिलाकर भी नहीं प्राप्त की जा सकती। पुनश्च, वस्तुओं एवं जगत् के सम्बन्ध में अज्ञेयवादी ज्ञानमीमांसा विकसित करने से जगत् में व्यवहार करना एवं जीना कठिन हो जायेगा। हम एक—दूसरे के साथ ज्ञान के माध्यम से संचार करते हैं भाषा के प्रयोग से। ज्ञान की अनुभूति भाषा के माध्यम से निकलकर अन्यो तक पहुँचती है और हम एक—दूसरे के साथ अन्तक्रिया करते हैं। इसलिए यह कहना कि हम कुछ भी जान नहीं सकते और यदि जान भी गये तो इसका संचार नहीं कर सकते, एक प्रकार से घोर अज्ञेयता को प्रमाणित करने का प्रयास है जबकि लोक—व्यवहार में प्रतिदिन हम देखकर यह कह सकते हैं कि हमारा अनुभव सम्पूर्णता

में न सही, परन्तु प्रमाणों के साथ कुछ हद तक सटीक संचार कर लेते हैं। सबसे कठिन समस्या सुकरात के समकालीन चिंतकों ने सत्य के स्वरूप को लेकर उठाया जिसमें सार्वभौमिकता, अनिवार्यता एवं सर्वस्वीकार्यता का सर्वथा अभाव था। यदि सत्य याज्ञान के स्वतन्त्र शोध को विभिन्न शर्तों से रहित एवं सार्वजनिकता से युक्त नहीं माना जाय तो वह ज्ञान या शोध सापेक्ष होगा जो निरपेक्षता, सार्वभौमिकता एवम् वैध ज्ञान या सत्यता की किसीभी कसौटी पर खरा नहीं उतर पायेगा। ऐसा ज्ञान सार्वकालिक न होकर क्षणिक एवं त्रुटिपूर्ण होगा। वह अनिवार्य न होकर प्रायिकएवम् अनिश्चित होगा। व्यक्ति-सापेक्ष ज्ञान सद्गुण नहीं, वरन स्वार्थ का स्वरूप ले सकता है।

5.2.2 ज्ञान एवं सत्य से सम्बन्धित सुकरात के विचार

सुकरात ने उन सभी प्रकार के ज्ञानों की समीक्षा की जो अन्य व्यक्तियों से प्राप्त होता है और स्वानुभूति से साम्य नहीं रखता। जिस ज्ञान को भौतिक वस्तुओं की तरह खरीदा जा सकता है उसमें सार्वजनिकता नहीं होती। सत्य ज्ञान वह है जिसकी साक्षात् अनुभूति स्वयं को होती है, और जिसे प्राप्त करने के लिए सतत आत्म-परीक्षण की आवश्यकता होती है। सुकरात ने ज्ञान को धारणा (कॉन्सेप्ट) से उत्पन्न बताया है। उनका मानना है कि 'समस्त ज्ञान हमारी अवधारणा से उत्पन्न होते हैं जो कि हमारे भीतर हैं। इसी बात को और स्पष्ट करते हुए उनके प्रिय एवम् विद्वान् शिष्य प्लेटो ने 'धारणा' पद का बदलाव करते हुए उसकी जगह 'प्रत्यय' को स्वीकार किया और बतलाया कि 'सभी ज्ञान प्रत्यय से प्राप्त होते हैं जो हमारेभीतर और हमारे बाहर भी हैं।' वस्तुतः प्लेटो ने सुकरातद्वारा दिये गये ज्ञान के सम्बन्ध में यह कोई नयी बात नहीं की क्योंकि वे अपने गुरु का अत्यन्त सम्मान करते थे तथा अपने 52 वर्षों के अकादमिक जीवन में से लगभग 40 वर्षों तक अपने गुरु सुकरात के उपदेशों एवं शिक्षाओं का ही विभिन्न संवाद (डॉयलॉग्स) के रूप में से संकलन करते रहे। बाद के अंतिम 12 वर्षों में ही उन्होंने अपने विचार (यद्यपि कतिपय भिन्नता के साथ) पृथक् संवादों के माध्यम से लाये। यहाँ ज्ञान की निर्मिति के सम्बन्ध में प्लेटो ने केवल पदावली बदली है अर्थ-निरूपण के लिए तथा सर्वग्राह्य बनाने के लिए जो ज्ञान स्वानुभूति से यानि स्वयं के धारणा से उत्पन्न हो रहा हो और उसकी संवादिता (कारेस्पॉन्डेन्स) दूसरों की धारणा से भी हो जाय तो उसकी वस्तुनिष्ठता एवं सार्वजनिकता बढ़ जाती है और वह सत्य की कसौटी पर खरा होने से सर्वस्वीकार्य भी बन जाता है। अन्यथा जब कोई अनुभूति इच्छा एवम् विभिन्न उपाधियों से युक्त होकर उपस्थित हो तो वह ज्ञान की कसौटी पर सापेक्ष एवं सोपाधिक होने के कारण सत्य एवं प्रामाणिक नहीं हो सकता। सोफिस्टों की सबसे बड़ी समस्या थी ज्ञान के सम्बन्ध में 'विश्वास' तत्त्व को बाह्यशर्तों द्वारा युक्त कर सत्य घोषितकर दिया जाय, परन्तु यह सुकरात को स्वीकार नहीं था। सत्य ऐसा हो जिसकी प्रामाणिकता स्वान्तर्भूति से सिद्ध हो तथा प्लेटों के शब्दों में कहें तो इसे और व्यापक होकर दूसरों की अनुभूतियों से भी उतनी ही मात्रा में प्रमाणित हो सके।

ज्ञान एवं सत्य के परस्पर इस सम्बन्ध से स्पष्ट है कि यदि ज्ञान भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का ज्ञान धारणा से उत्पन्न होने के कारण या प्रत्यात्मक होने से परस्पर संवादिता से सत्य प्रमाणित हो पाते हैं तो वह ज्ञान सत्य है, अन्यथा वह पृथक्-पृथक् व्यक्तियों की सापेक्षिक भावनाएँ सम्वेदनाएँ एवम् इच्छाएँ ही बन कर रह जाती हैं। ऐसे में व्यक्ति सापेक्ष सम्वेदनों की जिनकी प्रामाणिकता अर्थ अन्तरानुभूति से न हो तो यह निरपेक्ष भी नहीं हो सकते और यदि ज्ञान में निरपेक्षता अनिवार्यता एवं सार्वजनिकता न हो तो वह सद्गुण भी नहीं सकते। इस प्रकार सुकरात के चिन्तन में ज्ञान, अनैतिकता, परस्पर

सामञ्जस्य है।

5.2.3 धर्म एवं नैतिक प्रत्ययों से सम्बन्धित सुकरात के विचार

सुकरात ने सद्गुण की प्राप्ति के लिए पूर्ण रूप से बौद्धिकअन्तर्दृष्टि को आधार बनाया है। सुकरात की नैतिकता से सम्बन्धित प्रमुखतः निम्नवत्धारणाएँ हैं:

- 1) सद्गुण ज्ञान है, इसके विपरीत, बुराई या अनैतिक आचरण बौद्धिकभूल है, यानि दुर्गण अज्ञान है।
- 2) सद्गुण एक है।
- 3) अनैतिक आचरण सदैव अनैच्छिक होता है।
- 4) धर्म के क्षेत्र में विवेकपूर्ण सदराचा ही धर्म है। यह बौद्धिक ज्ञान द्वारा ही सम्भव हो सकता है, जो अन्तरात्मा की आवाज बनकर निकली हो।

सुकरात ने धर्म को नीतिशास्त्र की एक शाखा के रूप में देखा था। जो कर्मकाण्ड एवं नैतिकता से शून्य हो, वह चाहे शास्त्रीय हो या लोक-प्रचलित उनकी सुकरात ने आलोचना की तथा बौद्धिक स्वरूप प्रदान करने का प्रयास कियाउनकी सर्वोपरि मान्यता यह थी कि बौद्धिक (धारणात्मक या अन्तरात्मा की आवाज) न हो, वह न तो धर्म हो सकता है और नहि कोई सद्गुण या नैतिकता। ऐसा उन्होंने इसलिए करना चाहा था क्योंकि उनके अनुसार, सद्गुण ज्ञान, धर्म एवं नैतिकता के प्रत्ययों में परस्पर एकता, सामञ्जस्य एवं सार्वजनिकता की प्रामाणिकता अवश्य दिखनी चाहिएसत्य ज्ञान एवं धर्म की इसी सार्वजनिक खोजों एवम् इनपर बल देने के कारण सुकरात पर मिथ्यारोप एवम् अनैतिक अभियोगलगाया गया जिसका उन्हें शिकार होना पड़ा। प्राचीन पाश्चात्य चिंतन परम्परा में सुकरात के इस स्वतन्त्र चिंतन जिसमें सत्य, धर्म, न्याय एवं नैतिकता के वचन प्रमुख थे, कोराज्यसत्ता का दुरुपयोग करके बलात् प्रतिबन्धित करने का सबसे प्राचीन एवं पहला उदाहरण प्राप्त होता है।

स्वतन्त्र शोध एवं सत्य प्रतिवारित करने का यह बहुत ही दुःखद उदाहरण है। सुकरात न केवल एवं यूनान बल्कि सम्पूर्ण मानवता के नैतिक धरोहर है जिन्होंने अपने प्राण देकर भी सत्य एवं सत्य-वचन एवं स्वतन्त्र चिंतन परम्परा के प्रवाह को रुकने नहीं दियाँ लगभग सत्तर साल की आयु में सुकरात पर मुकदमा चलाने वाले, अभियोगियों में तीन नाम प्रमुख हैं: 1) अनीटस, जो एक एथेंस का तत्कालीन राजनेता था, 2) मेलिटस, जो एक दुःखान्तवादी कवि था तथा 3) लाइकन, जो एक वाक्पटु सोफिस्ट था। सुकरात के ऊपर तीन आरोप लगाये गए:

- 1) सुकरात राष्ट्रीय देवों की उपासना नहीं करते।
- 2) वे नये देवों कासृजन कर रहे हैं, और
- 3) वे अपने विश्वासों के अनुसार शिक्षा देकर एथेंस के युवकों को पथभ्रष्ट कर रहे हैं।

सुकरात ने न्यायालय में अपना पक्ष स्वयं रखा एवम् उनके तर्कों के समक्ष अभियोजन पक्ष ठीक न सका। तीनों आरोपों पर सुकरात ने अपना पक्ष रखते हुए उन्हें खण्डित कर दियाँ अपराध सिद्ध नहीं होने पर भी न्यायालय ने उन्हें प्राणदण्ड देने का फैसला कर दियाँ इस प्रकार सत्य को राजनीति के गंदे नाले में नहाये उन न्यायधीशों एवं राज्यसत्ता केलोभियोंने देखा कि सत्य, न्याय एवं नैतिकता की नई एवं सार्वजनिकपरिभाषा के आ जाने से उनकी राज्यसत्ता काअबाध उपभोग रुक जायेगा, एतदर्थ उन्होंने सुकरात के साथ षडयन्त्र कर मृत्युदण्ड के स्वरूप में जहर का प्याला

देकर सुकरात के शोधों पर विराम लगाने का प्रयास किया, परन्तु सुकरात ने अपने प्राणों को छोड़ते हुए भी सत्य एवं न्याय के अपने उस सार्वजनिक खोजों को नहीं छोड़ा जो आज भी पूरी दुनिया में ससम्मान स्वीकृत किया जाता है। सुकरात के इस घटना से आगे बढ़कर आधुनिक युग के ऐसे ही सत्यान्वेषी बुनो की प्राणान्तक घटना भी हुई जो पाश्चात्य चिन्तन के इतिहास में काले धब्बे बनकर आज भी उसकी गरिमामर्दन के प्रमाण हैं जिनका हम आगे क्रमिक सर्वेक्षण एवम् विश्लेषण करेंगे।

5.3 स्वतन्त्र अन्वेषण एवं मध्ययुगीन पाश्चात्य प्रतिबन्ध

महामानव सुकरात के यशस्वी एवं स्वतन्त्र अन्वेषणों की धारा उनके निधन के बाद भी रुकी नहीं। उनके विचारों के प्रवाह को उनके सुयोग्य शिष्य प्लेटो ने बड़ी स्पष्टता एवम् अपने गुरुतर प्रतिभा का परिचय देते हुए ज्ञान, सत्य, न्याय, धर्म एवं शुभ के प्रत्ययों का गंभीर विवेचन किया, जिसका प्रभाव आज भी पूरी दुनिया में गहरे रूप में दिखलाई देता है। प्लेटो ने ज्ञान को परिभाषित करते समय अपने गुरु सुकरात के मत में सावधानीपूर्वक परिवर्तन करके 'धारणा' (कानसेप्ट) के स्थान पर प्रत्यय (आइडिया) कर दिया तथा प्रत्ययों की सार्वजनिकता को ही ज्ञान बतलायाँ थीटीटस नामक अपने संवाद (डायलॉग्स) ज्ञान को एक सत्य प्रमाणिक विश्वास माना। ज्ञान की यही परिभाषा इतनी उम्दा है कि समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक एडमण्ड गेटियर ने सन् 1963 ई. में इस मान्यता पर प्रश्न चिन्ह खड़ा किया, और इसके उत्तर में अनेक विद्वानों ने नवीन शोध-पत्रों का सृजन किया आज भी यह प्रश्न अपने पक्ष एवम् विपक्ष कोलेकर उसी ऊँचाई के साथ पूरी पाश्चात्य चिन्तन-परम्परा की ज्ञानमीमांसीय शाखा में खड़ा है। प्लेटो के इन महान चिन्तन-परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय उनके प्रिय एवम् आज के तथाकथित पाश्चात्य बौद्धिकता के नायक अरस्तू जो ज्ञान के कई विधाओं के जनक के रूप में ख्यात हैं, ने द्रव्य, आकार, कारणता सहित कई दार्शनिक, भौतिक, जीव विज्ञान तत्त्वमीमांसा तथा नीतिमीमांसा के गहन प्रश्नों पर अपने स्वतन्त्र शोध को आगे बढ़ायाँ इनकी तत्त्वमीमांसीय खोजों का सम्बन्ध बाद में प्रचलित हुए धर्मों में समादृत विचार के रूप में स्वीकार किया गया यद्यपि उनमें से कुछेक पर प्रतिक्रिया हुई एवं सुधार भी हुआ जिसका विवरण प्रसंगानुसार आगे किया जायेगा। अरस्तू द्वारा सृष्टिमीमांसा के सम्बन्ध भू-केन्द्रिक (जियोसेन्ट्रिक) सिद्धान्त दिया गया था जिसके अनुसार इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केन्द्र पृथ्वी को माना गया था तथा समस्त आकाशीय पिण्ड इसी पृथ्वी का चक्कर लगाते हैं। इस सिद्धान्त को इसाई धर्म में विशेष स्थान प्राप्त हुआ। इसी मान्यता के विपरीत खोज को लेकर एक बार पुनः मध्य-युग के अन्त में चर्च ने तर्क एवं सत्य से युक्त ज्ञान को प्रतिबन्धित करने का कुत्सित प्रयास किया था।

अरस्तू का देहान्त 322 (ईसा पूर्व) में हुआ और यूनानी दर्शन अब धीरे-धीरे सुकरात-प्लेटो-अरस्तू के विचारों के ही इर्द-गिर्द थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ घूमता रहा। कोई विशेष नवीन ज्ञान न दे सका क्योंकि इन त्रिदेवों का चिन्तनयूनानी दर्शन का शिखर था। अरस्तू के बाद पाश्चात्य जगत् में, दार्शनिक चिन्तन का केन्द्र रोम एवं मिश्र बना जिसमें प्लोटिनस ने नव्य-प्लेटोवाद को आगे बढ़ायाँ ईसा के जन्म के बाद धीरे-धीरे प्लेटोवादी एवम् अरस्तवी चिन्तन का प्रभाव कम हो गयातीसरी, चौथी एवं पाँचवी शताब्दी में नव्य-प्लेटोवाद का खुब प्रभाव बना रहा। लेकिन इसाई विचारों के साथ नव्य-प्लेटोवाद का संघर्ष बना रहा।

छठी शताब्दी यानि सन् 529 ई0 में रोमन सम्राट जस्टिनीयन ने इसाई धर्म और विचार

की रक्षा एवं प्रचार हेतु प्लेटो की एकेडमी एवं नव्य-प्लेटोवादी शिक्षण संस्थाओं को जो स्वतन्त्र दार्शनिक विचारों एवं शोध के केन्द्र थे, को बलपूर्वक बन्द करा दिया यह किसी स्वतन्त्र शोध पर प्रतिबन्ध का पाश्चात्य इतिहास में दूसरा बड़ा प्रयास था। यहीं से शिक्षा एवं चिन्तन का केन्द्र अब रोम बन गया जहाँ ईसाई धर्म अपने वर्चस्व की ओर बढ़ने लगा। यहीं पाश्चात्य चिन्तन-धारा में मध्य युग की शुरुआत हो गयी जो लगभग एक हजार वर्षों तक चलता रहा। मध्ययुग के चिन्तन की निम्न विशेषताएँ थी:

- 1) इस काल का चिन्तन एवं सत्यान्वेषण ईशकेन्द्रित (थियोसेन्द्रिक) था।
- 2) ज्ञान में सत्य की प्रमाणिकता के लिए तर्क का स्थान बहुत ही कमजोर तथा विश्वास का अत्यधिक था।
- 3) चर्च का प्रभुत्व।

इस बात को यों स्पष्ट किया जा सकता है कि सत्य का या ज्ञान का अनुशीलन तब तक नहीं हो सकता जब तक आप चर्च प्रतिपादित ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर की सत्ता एवम् उनके वचन को अन्तिम प्रमाण न मान लें। अतः समस्त स्वतन्त्र चिन्तन एक तरह से ईशकेन्द्रित होने से तर्क की एक सीमा द्वारा निर्धारित हो गया और ईसाईयत के धर्मशास्त्रों एवं चर्च की सत्ता के विरुद्ध कोई भी तर्क नहीं दिया जा सकता था, भले ही इनमें निहित बातें कुर्तक एवम् अन्धविश्वास पर आधारित क्यों न हो। विश्वास का स्थान भी आस्था में परिणत चुका था। इस प्रकार सम्पूर्ण पाश्चात्य परम्परा के मध्य-युग का चिन्तन सीमित एवं प्रतिबन्धित सा लगने लगा था। यही कारण है कि इस युग की इसी नकारात्मक विशेषताओं के कारण इसे अंधकार-युग (*एरा ऑफ़ डार्कनेस*) भी कहा जाता है। भक्ति, आस्था एवम् विश्वास तो ठीक है। ये धार्मिक ज्ञान के निर्मिति के तत्त्व हैं, परन्तु इनका अंधभक्ति एवम् अंधविश्वास के रूप में परिणत हो जाना कभी भी स्वतन्त्र शोध, चिन्तन एवं सत्यान्वेषण हेतु स्वीकार्य नहीं हो सकता। इस युग का समय समय-विस्तार लगभग चौदहवीं-पंद्रहवीं शताब्दी तक रहा। वैसे तो इस युग में स्वतन्त्र चिन्तन की सम्भावना बहुत कम थी, फिरभी कुछ दार्शनिक चिन्तन सन्त ऑगस्टीन, सन्त अक्वाइनस, सन्त अन्सेल्म, जॉन स्कोट्स आदि रहे। मानव सभ्यता को गति देने वाला कोई क्रान्तिक विचार नहीं आया।

5.4 पुनर्जागरण के अग्रदूत एवं पाश्चात्य प्रतिबन्धक तत्त्व

जब यह युग अपने अवसान की ओर था एवं धीरे-धीरे इस अन्धकार एवं सुषुप्ति से पुनर्जागरण की आहट आने लगी लगी थी, तभी कुछेक विज्ञान के चित्तको ने चर्च एवम् ईसाईयत समर्थित प्रतिबन्धक तत्त्वों के विरुद्ध तर्क एवं प्रयोगों पर आधारित कुछ चिन्तन प्रारम्भ कर दिये जिनका एक बार पुनः राज्यसत्ता ने अपने कुतर्कों एवं राजनीतिक बल का प्रयोग कर स्वतन्त्र शोध को कुचलने का प्रयास किया

5.4.1 निकोलस कोपरनिकस के शोध एवम् उनका विरोध

मध्य-युग के अन्त में तर्क, विज्ञान एवं प्रयोगों पर आधारित सत्य ही स्वीकार किया जाने लगा। आस्था एवं विश्वास के डोर कमजोर हो गये थे। तभी पुनर्जागरण काल के पोलिश खगोलशास्त्री निकोलस कोपरनिकस (1473-1543) ने खगोलीय घटना पर अपने विचार *कमेंटेरियोस* नामक पुस्तक में प्रकाशित किये। कोपरनिकस ने एक क्रान्तिकारी सूत्र दिया कि पृथ्वी अन्तरिक्ष के केंद्र में नहीं है। यह स्थापना पहले से चली आ रही मान्यता के विरुद्ध थी। इससे पूर्व अरस्तू ने ब्रम्हाण्ड का भू-केन्द्रिक (*जियोसेन्द्रिक*) मॉडल का सिद्धान्त दिया था हालाँकि उससे भी पूर्व पाइथागोरस से

कहा था कि पृथ्वी अग्नि के चारों ओर चक्कर लगाती है और हेराक्लाइटस ने कहा था कि पृथ्वी सूर्य के इर्द-गिर्द घूमती है, लेकिन यह सभी एक तरह की तत्त्वमीमांसीय संकल्पनाएँ थी। बाद में अरस्तू ने बताया कि पृथ्वी ही अन्तरिक्ष के केंद्र में है और सूर्य इसके चारों ओर चक्कर लगाता है। इस विचार कोईसाई धर्म ने आत्मसात् कर लिया जब निकोलस कोपरनिकस का यह विचार आया कि पृथ्वी नहीं, वरन् सूर्य ही इस अन्तरिक्ष के केंद्र में है और पृथ्वी ही, सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती है, तो ईसाई धर्म एवं चर्च की तरफ, से कहा गया कि यह बाइबिल में स्वीकृत सत्य को नकारा गया है। यद्यपि कोपरनिकस को वह परिणाम नहीं झेलना पड़ा, जो परिणाम सत्य के नवोन्मेष हेतु सुकरात, गैलीलियो एवं ब्रूनो को झेलना पड़ा था। एक कारण और था जिसमें बताया जाता है कि कोपरनिकस का सम्बन्ध भी चर्च से था और उसने अपने इसे सिद्धान्त की पुष्टि के लिए गणितीय गणना नहीं करायी थी तथा यह किसी प्रयोग का परिणाम नहीं था। निकोलस कोपरनिकस की यह खोज रचनाशील तत्त्वमीमांसा या रचनात्मक परिकल्पना के सार्थक उपयोगिता की ओर अवश्य ही ध्यान आकृष्ट करती है, किन्तु इसकी महत्ता को दबाने के प्रयास के भय से भी सम्भव हो सकता है कि कोपरनिकस की अपनी पुस्तक *कमेंटेरियोस* का प्रकाशन विलम्ब से हो पाया लेकिन यह अकेला कारण नहीं था। गणितीय गणना के अभाव में इस खोज हेतु तार्किकता का मुकम्मल अभाव भी जिम्मेदार रहा था। यह किसी सघन प्रयोगों पर भी आधारित नहीं था, जिससे निकोलस कोपरनिकस को अपने सिद्धान्त को लेकर आशंका सी बनी रही। यही कारण थे कि चर्च के प्रतिबन्धक तत्त्वों ने कोपरनिकस की आलोचना की एवम् उनकी पुस्तकों पर प्रतिबन्ध भी लगा दिया।

5.4.2 जिर्योदानो ब्रूनो केशोध एवम् उनका विरोध

सन् 1543 ई० में कोपरनिकस के निधन के बाद इटली में जिर्योदानो ब्रूनो का जन्म सन् 1548 ई० में हुआ जिसने निकोलस कोपरनिकस से भी आगे बढ़कर सत्य ज्ञान का अन्वेषण, प्रकाशन एवम् प्रचार किया। ब्रूनो के दो तरह के विचार तत्कालीन चर्च, पोप एवम् धर्म के पाखंडियों को बुरा लगा। प्रथम, उन्होंने धर्म के अन्धविश्वासी तत्त्व को मानने से इनकार कर दिया तथा दूसरा कोपरनिकस के हेलियोसेन्द्रिक मॉडल को स्वीकार करते हुए उसे सिद्ध करने का प्रयास किया जहाँ कोपरनिकस ने केवल यह माना कि सूर्य इस अन्तरिक्ष के केंद्र में है एवम् पृथ्वी सहित अन्य सात ग्रह इसके चक्कर लगाते हैं, वहीं ब्रूनो ने कई ब्रह्माण्ड एवम् इसके केंद्र में कई सूर्यों की बात कही तथा यह बतलाया कि सृष्टि सदैव वर्द्धमान है। कोपरनिकस की तुलना में ब्रूनो ने अधिक कठोरता से अन्धविश्वास को नकारकर विज्ञान की स्थापना करना चाहता था। इसके अतिरिक्त ईसा मसीह की दिव्यता पर भी इन्होंने प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दिया तब चर्च, पोप एवम् ईसाई धर्म के अनुयायियों को लगा कि ब्रूनो विधर्मी है। क्योंकि धर्म पर आक्रमण एवम् विज्ञान का समर्थन उन्हें चर्च की सत्ता का शत्रु बना दिया ईसाई मान्यता के अनुसार सूर्यकेन्द्रित (*हेलियोसेन्द्रिक*) मॉडल न स्वीकार करके अरस्तवी प्रस्ताव वाले भू-केन्द्रित (*जियोसेन्द्रिक*) मॉडल को बाइबिल में स्थान प्राप्त था। अतः ब्रूनो का हेलियोसेन्द्रिक मॉडल जो खगोलविषयक विचारों में क्रान्ति ला दिया था, को बाइबिल के विरुद्ध माना गया और ब्रूनोको चर्च ने अभियुक्त बनाकर मृत्युदण्ड की सजा सुना दी। सजा के तौर पर ब्रूनो को इस विश्व के इतिहास में सबसे क्रूरतम सजा दी गयी। ब्रूनो को जीवित जला कर मारा गया ब्रूनो के हेलियोसेन्द्रिक मॉडल को बाद के कई खगोलशास्त्रियों ने अपना समर्थन दिया और इस खोज को विज्ञान एवम् तर्क पर आधारित माना।

5.4.3 गैलीलियो गैलीलाई के खोज एवम् उनका विरोध

सन् 1600 ई. में ब्रुनो की मृत्यु के पश्चात् एक बार पुनः इतालवी खगोलशास्त्री गैलीलियो, जिनका जन्म सन् 1554 ई. में हुआ था, ने टेलिस्कोप का आविष्कार किया एवम् खगोलशास्त्र के क्षेत्र में अत्यन्त ही प्रामाणिक प्रयोगों पर आधारित एवम् गणितीय गणनाओं से सम्पुष्ट शोध कियाइन्होंने भी हेलियोसेन्द्रिक मॉडल को ही आगे रखकर सत्य का उद्घाटन कियासच पूछा जाय तो बाइबिल की यह मान्यता थी कि पृथ्वी ही अन्तरिक्ष के केन्द्र में है और सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है। यह मान्यता उस समय की है जब तत्कालीन पश्चिमी लोगों के लिए तर्क-वितर्क और विज्ञान का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। बाइबिल में जो बात लिख दी गई, वहीं अंतिम सत्य मान ली गई थी। लेकिन गैलीलियो गैलीलाई ने अपने गहन प्रयोगों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सूर्य पृथ्वी के नहीं, बल्कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करती है। इस शोध के निहितार्थ स्वरूप यदि इस सूर्यकेन्द्रित (हेलियोसेन्द्रिक) मान्यता को लोग स्वीकार करने लगते तो, बाइबिल एवम् पोप की बातें गलत सिद्ध हो जातीं। इस भय से आक्रान्त चर्च की सत्ता ने गैलीलियो पर धार्मिक पुस्तकों के अपमान का अभियोग लगाकर जेल में डाल दियाँ उन्हेंसजा के तौर पर आजीवन नजरबन्द रखा गया और 1642 में गैलीलियो की मौत हो गयी। गैलीलियो के मौत के लगभग 350 साल बाद पोप जॉन पॉल ने यह स्वीकार कर लिया कि गैलीलियो के शोध सही थे और चर्च का अभियोग गलत था। गैलीलियो द्वारा स्थापित सत्य को बाद के अन्य खगोलविदों ने भी अपनी मान्यता दी। इस प्रकार गैलीलियो को अपने सत्य पर आधारित शोधों की वजह से प्रतिबन्धक तत्त्वों से अपनी जान गंवानी पड़ी।

5.5 आधुनिक पाश्चात्य काल में स्वतन्त्र चिन्तन एवं प्रतिबन्धक तत्त्वों में बदलाव

दार्शनिक सत् एवम् सत्य के सम्बन्ध में स्वतन्त्र शोधों पर उपर्युक्त मध्ययुगीन चर्च-सत्ताका बल प्रयोग एवम् उनके अमानवीय व्यवहारों के उदाहरणों को देखने के बाद आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन में स्वतन्त्र विचारणा की प्रक्रिया एवम् उसके सम्पूर्ण उद्देश्यों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होने लगता है कि बौद्धिक स्वतन्त्रता की सीमाएँ इस युग-धर्म के अनुरूप अपना स्वरूप बदल कर प्रकट हुई है।

मध्ययुग की वैचारिक असहिष्णुता बल-प्रयोगों को आगे करके प्रकट हुई थी चाहे वह रोमन सम्राट जस्टिनियन के द्वारा बलात् प्लेटो की अकादमी एवम् अन्य गैर-विचारधारा वाले चिन्तन की शिक्षण संस्थाएँ हो जिनको बन्द करा दिया गया, या युग के सम्पूर्ण चिन्तन को ईसाई-केन्द्रित करना हो, या इस युग के अन्त में निकोलस कोपरनिकस, जिर्योदानो ब्रुनो एवम् गैलीलियो गैलीलाई को यातनापूर्ण अपमान एवम् सजाएँ देना हो, ये सभी उदाहरण मानवीयता के निकृष्टतम स्तर के थे। इसके पूर्व प्राचीन कारण में सुकरात के साथ भी वहीं बलात् एवम् मृत्यु-दण्ड सम्पूर्ण यूरोपीय इतिहास एवम् ईसाई मान्यताओं को कलंकि करते हैं।

आधुनिक काल में ये प्रतिबन्धक तत्त्व या सत्य के प्रति असहिष्णुता का भाव हिंसक न होकर बौद्धिक एवम् सांस्कृतिक अन्ध-श्रद्धा (कल्चरल डॉग्मा) बनकर उभरा। रेने देकार्त जिसे आधुनिक पाश्चात्य दर्शन का जनक कहा जाता है और उन्हें तार्किक एवम् दार्शनिक विधियों (विशेषकर सन्देह की विधि) के प्रयोग द्वारा सत्य की कसौटी खोजने एवम् अन्धविश्वासी चिन्तन की जड़ता से दर्शन को मुक्त करने का श्रेय प्राप्त है, ने अन्ततः चर्च की जड़तात्मक सोच से अपने को मुक्त नहीं कर पायाँ वस्तुतः देकार्त

ने सत्य की असंदिग्ध कसौटी के रूप में आत्मा या ज्ञाता (*कोजिटो*) को अवश्य एक तार्किक प्रतिष्ठा प्रदान की, परन्तु ईसाईयत के अनुकूल इसे ज्ञाता में ज्ञान की सहज या जन्मजात प्रत्ययों के धारकता को बतलाने के लिए ईश्वर की परिकल्पना को लाया जहाँ दर्शन की तार्किकता पुनः एक बार धर्म के बिना अधूरी प्रतीत होने लगी अतः वह अपने समस्त वैज्ञानिक-तार्किक चिन्तन को परिकल्पनात्मक गर्त में धकेल देता है। यह सत्य के स्वरूप को धर्म के चादर से ढँकने का ही प्रयास है। यहाँ ईश्वर भावनाओं एवम् आस्था का विषय हो सकता था, परन्तु उसने द्रव्य के स्वरूप की तार्किक परिणति के रूप में ईश्वर को लाता है जिससे उसकी तत्त्वमीमांसा ज्ञानमीमांसा एवम् नीतिमीमांसा की नींव को मजबूती प्रदान की जा सके। देकार्तीय चिन्तन के द्वारा ईसाई दर्शन एवम् धर्मशास्त्र (क्रिश्चियन थियोलॉजी) की अरस्तवी पहचान पुनर्जीवित करने एवम् चर्च की सत्ता को प्रतिष्ठित करने का श्रेय देकार्त को एलेक्जेण्डरकायरे ने अपनी पुस्तक, *देकार्त उण्ड डाई स्कोलास्टिक* में करते हुए कहते हैं कि "यह (देकार्त की कृति *मेडिटेशन* के सम्बन्ध में) एक कैथलिक ईसाई दार्शनिक की कार्य है जो ईश्वर एवम् चर्च की प्रतिष्ठाएवम् महिमा के लिए संघर्ष करता है और अनिश्चरवादियों, सन्देहवादियों एवम् मुक्त चिन्तकों के विपरीत सिद्ध करने की इच्छा रखता है।" इसके अतिरिक्त देकार्त ने स्वयं ही अपनी कृति, *एपिस्टोला*, जिल्द-VII, पृ० 1, जो उनकी *मेडिटेशन* से पहले लिखी गयी थी, में संकेत करता है कि उसके दर्शन की रचना के उद्देश्य को उन ईसाई धर्म के दो सिद्धान्तों को नहीं मानने वालों (*नॉन क्रिश्चियन्स*) को राजी करना है: उनमें से पहला सिद्धान्त है ईश्वर का अस्तित्व एवम् दूसरा है— आत्मा की अमरता। देकार्त के सम्बन्ध में इन बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें आधुनिक पाश्चात्य दर्शन एवम् चिन्तन का जनक एक महज प्रचार के लिए बतलाया गया जो कि दुनिया में तर्क एवम् विज्ञान की विशेषताओं से ओत-प्रोत होकर ईसाई धर्म के अन्ध तत्त्व को एक स्वीकरणीय दर्शन के रूप में दिखाया जा सके।

आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन के बुद्धिवादी सम्प्रदाय के दूसरे चिन्तक बनेडिक्ट डी. स्पिनोजा ने देकार्त के दर्शन में द्रव्य की परिभाषा में उपस्थित विसंगति को दूर करने के उद्देश्य से ईश्वर की महिमा को और अधिक तर्कतः विकसित करने का प्रयास किया जहाँ देकार्त ने ईश्वर को निरपेक्ष द्रव्य तथा आत्मा और शरीर को सापेक्ष प्राय माना था, वहीं स्पिनोजा ने ईश्वर को एक मात्र द्रव्य माना तथा आत्मा और शरीर या चेतना एवम् जड़ की उसके दो गुण मान लिया ईश्वर के सम्बन्धमें सर्वेश्वरवादी सिद्धान्त (*पान्थोयिस्टिक थियरी*) की रचना कर स्पिनोजा ने ईश्वर की महिमा का विस्तार किया तथा तत्कालीन चर्च की अपेक्षाओं को पूर्वापेक्षतया अधिकतर पुष्ट ही किया यही कारण है कि उसे ईश्वरोन्मत्त (*गॉड-इन्टॉक्सिकेटेड*) भी कहा जाता है। इस प्रकार दर्शन की रचना के पीछे चर्च को पुष्ट करना ही इनका भी उद्देश्य रहा।

इसी काल के बुद्धिवादी चिन्तक लाइब्निज ने जड़ एवम् चेतन की सत्ता में विकसमान तारतम्य को दिखाने के लिए ईश्वर नामक द्रव्य का सहारा लिया जिसे चिदणु (*मोनड*) सिद्धान्त के द्वारा आम जन को समझाने का प्रयास किया वह ईश्वर को परम चिदणु या रानी चिदणु (*क्वीन मोनड*) मानता है। ईश्वर ही समस्त जागतिक अभिव्यक्तियों का आधार है और विकास की चरम अवस्था तथा समस्त जड़ एवम् चेतन सत्ताओं का अन्तिम लक्ष्य है। इस जगत् में कुछ भी अनियत नहीं, वरन 'पूर्ण स्थापित छन्द' के नियमानुसार सब कुछ नियत एवम् पूर्व-निर्धारित है। अतः लाइब्निज ने भी गणित एवम् तर्क के अप्रतिम विद्वान होने के बाद भी स्वयं को चर्च, ईसाईयत एवम् ईश्वर (ईश-केन्द्रिकता) के लिए समर्पित कर देते हैं। यह उनका बौद्धिक विचलन है। ईसाईयत के लिए सत्य से विपथगमन है।

लाइब्रिट्ज के समकालीन रहे विज्ञान के क्षेत्र में ख्यातिलब्ध वैज्ञानिक जिन्होंने गति के तीन नियम सहित गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त दिये, वही न्यूटन ने भी ईसाईयत के खोल से बाहर नहीं आ सके। उनके अनुसार, उनके विज्ञान सम्बन्धी सभी खोजों एवम् शोधों का श्रेय ईश्वर है। उनकी मान्यता थी कि ईश्वर अपने विशाल ज्ञान-इन्द्रिय आकाश (स्पेस) के द्वारा समस्त प्राकृतिक घटनाओं का ज्ञान करता रहता है जिससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न्यूटन जैसे मौलिक चिन्तक भी धर्म के क्षेत्र में आस्था के आधार पर अपने तर्कों को रचने के लिए विवश है जो सत्य के मार्ग से एक विचलन ही है।

आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन की धारा में बुद्धिवादी चिन्तन के अतिरिक्त ब्रिटीश अनुभववाद की भी चिन्तन धाराएँ थीं जिसमें एक आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद (*सब्जेक्टिव आइडियलिज्म*) के सिद्धान्तकार दार्शनिक जॉर्ज बर्कले हुए थे। इन्होंने सत्ता को अनुभवमूलक बताया तथा यह सुनिश्चित किया कि सत्ता होने के लिए अनुभवकर्ता के रूप में अन्ततः ईश्वर को ही अन्तिम रूप से माना जा सकता है। यदि ईश्वर नहीं तो सत्ता नहीं। ईसाई धर्मशास्त्र के प्रभाव के चलते इस तरह के प्रत्ययवाद को बाद के समकालीन चिन्तकों ने विज्ञानवाद या प्रत्ययवाद के एक प्रतिनिधि सिद्धान्त के रूप में ग्रहण किया था। बर्कले में सत्ता अनुभवमूलक है (*एस्से ईस्ट परसिपाई*) के द्वारा ईश्वर को सर्वव्यापी बनाने का प्रयास किया था। इस प्रकार इन्द्रियानुभव भी अपने सत्य के निर्धारण के लिए एक ऐसे ईश्वर नामक प्रत्यय की अपेक्षा रखता है जिसको, किसी इन्द्रिय-ज्ञानसे जाना नहीं जा सकता। अतः यह भी सत्य के साथ एक धोखा थी।

5.6 समकालीन पाश्चात्य परम्परा में स्वतन्त्रचिन्तन के आयाम एवं प्रतिबन्धकों में बदलाव

पाश्चात्य चिन्तन परम्परा में प्रबोध (इनलाइटनेमेण्ट) काल के अन्त में आये जर्मन दार्शनिक फ्रेडरिक हेगल ने एक बार पुनः अपने निरपेक्ष प्रत्ययवादी चिन्तनसे पूरे यूरोप को प्लेटोनिक दुनिया की ओर उन्मुख कर दिया यद्यपि हेगल की चिन्तन एवम् दार्शनिक प्रविधि का उपयोग कई दार्शनिकों ने किया, फिर भी उनके विरुद्ध तर्क, विज्ञान एवम् प्रयोगों पर आधारित जिन दार्शनिक समूहों का एक होना एवम् तत्त्वमीमांसीय चिन्तन का विरोधी स्वर उभरना एक नये चिन्तन परम्परा की आहट थी, ने दर्शन एवम् पाश्चात्य चिन्तन को नई दिशा दी। इसके नकारात्मक एवम् साकारात्मक दोनों आयाम हैं और दोनों की सीमाएँ भी हैं। प्रबोध काल में गणित, तर्क एवम् प्रयोगाधारित आधुनिक विज्ञान (*एक्सपेरिमेण्टल साइंस*) हावी होने लगा था। इस वैज्ञानिक भावना (साइंटिफिक टेंपर) एवम् 'विज्ञान'-वाद (*साइंटिज्म*, जो प्रत्ययवाद नहीं है) ने हेगलीय प्रत्ययवाद एवम् समस्त प्रकार के तत्त्वमीमांसीय चिन्तन पर बड़ा प्रहार किया यही से समकालीन चिन्तन की पाश्चात्य प्रवृत्तियाँ उभरी एवम् दर्शन एवम् सम्पूर्ण पाश्चात्य जगत् को देशज एवम् सहज चिन्तनधारा पर कठोर बौद्धिक आक्रमण करप्रत्ययवाद का खण्डन करते हुए तत्त्वमीमांसा को निरर्थक घोषित करने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया इसने मानविकी, सामाजिकी, धर्म, विज्ञान एवम् राजनीति में स्वतन्त्रचिन्तन को इस हद का प्रभावित किया कि इन क्षेत्रों की दिशा ही बदल गयी। बहुत तरह के प्रतिबाधकों के आ जाने से सहज चिन्तन को गहरा धक्का लगा। ज्ञान के सभी अनुशासन स्वयं को विज्ञान एवम् तार्किक बनाने लगे। ऐसा हो गया कि मानो बिना विज्ञान को माने या वैज्ञानिक भावना का समावेश किये कोई भी अध्ययन का अनुशासन अपनी तेजस्विता एवम् स्वीकार्यता ही खो दिया हो। वैज्ञानिक भावना पर आधारित होने के लिए निम्न विशेषताएँ धारित करना अनिवार्य हो गया:

- 1) बाह्य वस्तुओं की सत्ता को स्वीकार करना (वस्तुवादी दृष्टि)।
- 2) इन्द्रियानुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान की सत्यता को प्रामाणिक मानना (अनुभववादी दृष्टि)।
- 3) जिसमे तर्क एवम् सत्यापनीयता पर जोर दिया जाय (प्रत्यक्षवादी/भाववादी दृष्टि)।
- 4) वैज्ञानिक अनुप्रयोगों की तार्किक व्याख्या हेतु आगमनात्मकनिष्कर्षों पर बल दिया जाना (आगमनवादी दृष्टि)।
- 5) सार्वजनिक बातों/एवम् तथ्यों को प्रमाण मानना (सार्वभौमिकतावाद या यूनिवर्सलिज्म)।
- 6) सिद्धान्तों, विधानों एवम् नियमों को प्रामाणिक मानना (सिद्धान्तवाद या थियोरिज्म)।
- 7) कारण-कार्य के नियम पर आधारित व्याख्या (कारणतावाद)।
- 8) प्रयोगों के फलस्वरूप प्राप्त निष्कर्षों पर आधारित व्याख्या (प्रयोगवाद या एक्सपेरिमेंटलिज्म)।
- 9) तर्क के नियमों पर आधारित सत्य एवम् वैध निष्कर्षों वाली युक्ति की स्वीकार्यता (तर्कवाद)।
- 10) सम्पूर्ण तन्त्र के अध्ययन में क्रमबद्धता एवम् तास्तभ्यता का होना (सिक्वेंसियलिज्म एवम् हारमोनिज्म)।

इनके अतिरिक्त तर्कशास्त्र में विचार के नियम (लॉज ऑफ थॉट) होते हैं जिनपर उनके निष्कर्षों की वैधता टिकी रहती है। ये तीन हैं : 1) तादात्म्य के नियम— जैसे, अ, अ है। 2) व्याघात के नियम— ऐसा नहीं हो सकता कि अ, 'न-अ' हो तथा 3) मध्यम परिहार के नियम, जैसे या तो अ है या अ नहीं है। इसके बीच की कोई स्थिति नहीं है।

उपर्युक्त तर्कों एवम् विज्ञान की आधुनिक विशेषताओं के खोजों के पश्चात् समकालीन चिन्तकों के समर्थकों एवम् अनुसन्धाताओं ने प्रत्यक्षवादी एवम् विज्ञानवादी-तर्कवादी होने के कारण तत्त्वमीमांसीय चिन्तनों को रोकने की बात की क्योंकि जॉर्ज एडवर्ड मूर ने 'सामान्य बुद्धि या व्यावहारिक बुद्धि की रक्षा' (डिफेन्स ऑफ कॉमन सेंस) तथा 'प्रत्ययवाद का खण्डन' (रिफ्यूटेसन ऑफ आइडियलिज्म) नामक दो शोध-पत्रों को तथा आल्फ्रेड जुल्स एयर ने तत्त्वमीमांसा का निरसन' (एलिमिनेशन ऑफ मेटाफिजिक्स) नामक निबन्ध को लिखकर परिकल्पनात्मक विचार की अर्थवत्ता, महत्ता एवम् अकादमिक प्रामाणिकता ही खत्म कर दी। यह समकालीन चिन्तन परम्परा में तर्क एवम् विज्ञान पोषित ऐसा प्रतिबन्धक तत्त्व था कि समस्त देशज, सहज एवम् सर्जनशील परिकल्पनात्मक शक्ति के मानवीय उपयोग पर सीमाएँ निर्धारित हो गयी जिसका मानविकी तथा समाजिक विषयों एवम् धर्मसे सम्बंधित अध्ययनों के स्वतन्त्र चिन्तन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। अब सभी विषय अपनी विश्वसनीयता को बनाये रखने के लिए यह सिद्ध करने का प्रयास करने लगे कि वह भी विज्ञान है। यानि साइंटिज्म का नकारात्मक प्रभाव उस विषय के स्वतन्त्र चिन्तन के प्रवाह को प्रभावित करने लगा। वैज्ञानिक विश्वदृष्टि ठीक है, परन्तु वहाँ भी विज्ञान की विशेषताओं एवम् विधियों का उपयोग करना जहाँ विज्ञान की स्वयं की सीमा निर्धारित हो गयी हो, उपयुक्त नहीं लगता। इससे न तो उस विषय-विशेष के क्षेत्र के ज्ञान में बढ़ोतरी हो पाती है और न प्रामाणिकता ही। अतः इसी काल-क्रम के उत्तरोत्तर अनुशीलन के फलस्वरूप यह स्पष्ट हो पाया कि विज्ञान एवम् गणित की पृष्ठभूमि से दर्शन के क्षेत्र

में आये चिन्तकों ने तत्त्वमीमांसा पर प्रतिबन्ध लगाने तथा उसके निरसन की वकालत करने लगे। इससे सर्जनशील तत्त्वमीमांसा जो स्वयं विज्ञान की निर्देशिका रही है, को रोक दिये जाने का प्रयास दर्शन के या यों कहें कि सम्पूर्ण समकालीन पाश्चात्य चिन्तन परम्परा के स्वतन्त्र अनुसन्धान में प्रतिबन्ध लगाने जैसा हो गया ज्ञान के परिक्षेत्र से दर्शन को अप्रासंगिक बताकर इसे सदा के लिए रोकने से देशज ज्ञान, मानविकी एवम् समाज विज्ञान के क्षेत्रों के चिन्तन में विकास को अवरुद्ध करने जैसा हो गया साइंटिज्म को बढ़ावा देने मात्र से ही हम दूसरे अनुशासनों के अध्ययन-अध्यापन को एक औपनिवेशिक दृष्टि से देखने लगते हैं और उनकी स्वायत्तता, सत्यता एवम् प्रामाणिकता पर प्रश्न चिन्ह खड़ा करने लगते हैं। ऐसी दृष्टि समकालीन चिन्तन के विचलन भरे प्रतिबन्धों के कारण ही सम्पूर्ण यूरोप की धरती पर उभरी और सम्पूर्ण विश्व के ज्ञान-परम्परा को प्रभावित करने लगी।

5.7 सारांश

इन समस्त प्रतिबन्धकों के उपस्थित रहने के कारण समय-समय पर पश्चिमी राज्य-सत्ता ने भी बौद्धिक-विमर्श या सुधार-प्रक्रिया के हिस्सा के नाम पर सच्च को उत्तर-सच्च के रूप में प्रस्तुत करने तथा अभिव्यक्ति एवम् सम्भाषण की आजादी पर भी प्रतिबन्ध लगाने से पीछे नहीं हटी है। लोकतन्त्र के आगमन के बाद भी इन प्रतिबन्धक तत्त्वों में मानव, समाज एवम् राष्ट्र की स्वच्छन्द प्रवाहशील धारा को अवरुद्ध करने का भरपूर प्रयास किया है। पाश्चात्य चिन्तन परम्परा में समय-समय पर आये प्रतिबन्धकों के विभिन्न स्वरूपों पर समग्रता में विचार करने के पश्चात् उनकी विशेषताओं के अनुरूप इन्हें सारांश रूप में निम्न प्रकारों में वर्गीकृत कर सकते हैं।

1. **अस्वीकरणवाद:** पश्चिमी सभ्यता के इतिहास में ऐसा कई बार देखा गया कि सत्य के वास्तविक स्वरूप को अस्वीकार कर दिया गया जिसमें सुकरात का समय एवम् आगे की स्थितियाँ सम्मिलित रहीं हैं।
2. **सन्देहवाद:** पाश्चात्य चिन्तन परम्परा में चौथी ई० पू० के चिन्तक पाइरो एवम् आधुनिक युग के ब्रीटिश अनुभववादी ह्यूम ने बौद्धिक रूप से सत्य पर प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दिया था जो एक नम्र-प्रतिबन्धक (सॉफ्ट रेस्ट्रीक्सन) का ही काम किया है। यद्यपि इसके कुछेक लाभार्जक प्रयास भी हुए हैं।
3. **पुनरीक्षणवाद:** पाश्चात्य परम्परा में कई बार ऐसे भी अवसर आये हैं जिसमें सिद्धांतों/शोधों के पुनरीक्षण (रिव्यू) के नाम पर एक प्रकार से मौलिक शोधों को रोकने का प्रयास किया गया या तो उसकी दिशा ही बदल दी गई।
4. **आधिपत्यवाद:** मध्यकाल के शुरुआती दिनों में रोमन सम्राट जस्टिनियन ने जिस तरह से अपनी राज्य-शक्ति के बल पर प्लेटोवादी एवम् नव्य प्लेटोवादी विचारधारा को नहीं मानने के कारण तत्कालीन ईसाई विचारधारा वाले विचार के आधिपत्य को कायम करने के लिए प्लेटो द्वारा स्थापित अकादमियों को जबरन बन्द करा दिया, उसे आधिपत्यवादी प्रतिबन्धक तत्त्व के रूप में जाना जा सकता है।
5. **धर्मकेन्द्रिकतावाद:** मध्य युग में अपने विशेषणों के अनुरूप समस्त स्वतन्त्र चिन्तन पर रोक थी। केवल ईशकेन्द्रित होकर ही चिन्तन को आगे बढ़ाया जा सकता था। चर्च, पोप, एवम् ईसाईयस के विरोध में स्वतन्त्र विचार चाहे वह धर्म के सम्बन्ध में हो या विज्ञान के क्षेत्र में हों, का भरपूर विरोध होता था। इस काल में

ब्रूनो एवम् गैलीलियो जैसे स्वतन्त्र अध्येताओं को तो अपने प्राणों की आहुति ही देनी पड़ गयी। कोपरनिकस एवम् न्यूटन आदि जैसे विज्ञान वेत्ता भी भयाक्रान्त रहें। अतः इस युग में प्रतिबन्धक तत्त्व के रूप में धर्मकेन्द्रिकतावाद ही उत्तरदायी माना जा सकता है।

6. **निरोधवाद:** आधुनिक युग के पश्चात यूरोप ने विज्ञान का खुला समर्थन शुरू कर दियाँ धर्म एवम् आस्था का प्रभाव घट गया, परन्तु विज्ञान में अन्ध-आस्था बढ़ने लगी और साइंटिज्म का प्रभाव इस प्रकार बढ़ा कि दर्शन एवम् अन्य विषयों के क्षेत्र में चिन्तन को प्रभावित करने लगा। सभी ज्ञानात्मक अनुशासन स्वयं को विज्ञान बनाने एवम् कहलाने में संलग्न हो गये। तत्त्वमीमांसीय चिन्तन पर प्रतिबन्ध लगाने हेतु तर्क दिया जाने लगा। 19वीं शताब्दी के समकालीन विश्लेषणवादी विज्ञान-पोषित दार्शनिकों ने तो परम्परा से चली आ रही कई पुरा-विद्याओं की आवश्यकता ही खारिज कर दी और इस तरह से रचनाशील तत्त्वमिमांसा एवम् रचनात्मक परिकल्पना को भी निरुद्ध कर देने की बात कही, जो एक स्पष्टतः स्वतन्त्रचिन्तन एवम् शोधों के उद्भव एवम् उपयोग पर कठोर प्रतिबन्धक तत्त्व के रूप में देखे जा सकते हैं।
7. **श्रेष्ठतावाद:** पश्चिमी सभ्यता को श्रेष्ठ मानते हुए उसे पूरी दुनिया में आदर्श, पवित्र एवम् श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए यूरोप ने अपने औपनिवेशिक विचार पूर्वी चिन्तनधारा पर थोपना प्रारम्भ कर दियाँ एशिया महादीप सहित दक्षिण अफ्रीकी देशों के अविकसित अर्थ-तन्त्र एवम् मानव-त्रासदी को आगे रखकर उनके चिन्तन के समग्र इतिहास को बहुत ही न्यून करके आँकने की मानसिकता से थोपी जाने वाली विचारधारा जब पाश्चात्यवाद बनकर उभरी तो अपनी प्रतिद्वन्दी विचारधारा प्राच्यवाद को हीन समझकर उसे कई अवसरों पर प्रतिबन्धित करने का प्रयास भा किया गया जिसे हम श्रेष्ठतावादी प्रतिबन्धक तत्त्व के रूप में पहचान कर सकते हैं।

ज्ञान के स्वतन्त्र शोध पर पाश्चात्य प्रतिबन्धक तत्त्वों के विस्तृत विवेचन से यह स्पष्ट है कि पूरी दुनिया को सभ्यता का पाठ पढ़ाने वाली पाश्चात्य चिन्तनधारा में उपस्थित इन प्रतिबन्धक तत्त्वों को देखकर उनके ज्ञानलोक में ये एक काले धब्बे की तरह प्रतीत होते हैं। फिर भी, यूरोप ने अनेक संघर्षों एवम् आत्म-बलिदानों से धर्म, मानविकी, सामाजिकी एवम् विज्ञान की सैद्धान्तिकी एवम् व्यवहारिकी ज्ञान परम्परा के क्षेत्र में समस्त जगत् में अग्रगामी सोच का परिचय दिया है तथा पूरे विश्व में मानव-सभ्यता को एक अप्रतिम गति प्रदान की है। विश्व के कतिपय समीक्षक एवम् मानव विकास के इतिहास के सुविख्यात लेखकों ने यद्यपि इसे भौतिक संसाधनों वाले विकास को सही नहीं माना है। अध्यात्म एवम् जीवन के अन्य अनिवार्य अभिष्टों की असम्प्राप्ति या विषमप्राप्ति के कारण इसे असन्तुलित विकास ही कहा है।

5.8 मुख्य पद/शब्दावली

1. **स्वतन्त्र शोध:** मानव चेतना से निःसृत वैसे स्वाभाविक चिन्तन जो अपनी प्रामाणिकता के लिए मानव के स्वयं की अन्तश्चेतना पर आश्रित हो तथा सत्य होने के लिए तार्किक एवम् आनुभविक पृष्ठभूमि से पुष्ट हों।
2. **प्रतिबन्धक तत्त्व:** ऐसे शर्तों, सिद्धान्तों एवम् उपायों को प्रतिबन्धक तत्त्व कहते हैं जो अपनी उपस्थिति से किसी ज्ञान की सीमा का निर्धारण कर देते हैं, या उसकी दिशा बदल देते हैं, या उसे सम्पूर्णता में बन्द कर देते हैं।

3. **प्रत्यय:** विचार या विज्ञान जो चिन्तन का मूर्त रूप है, वस्तुतः वह वस्तु या भावों का अमूर्त रूप होता है। इनका अस्तित्व केवल वैचारिक होता है न कि वस्तुगत।
4. **विज्ञान:** विज्ञान अपने दार्शनिक अर्थों में प्रत्यय या विचार ही कहलाता है। इसका अर्थ तब बदल जाता है, जब आधुनिक युग में प्रयोगों पर आधारित ज्ञान, जो परिकल्पना के साथ-साथ एक क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थित सैद्धान्तिकी का निर्माण करती है। तत्पश्चात् सत्य होने का दावा प्रस्तुत करती है।
5. **दर्शन:** ऐसे तत्त्व-ज्ञान को दर्शन कहते हैं जिसमें सत्य, असत्य, सत्, असत्, एवम् वास्तविक, अवास्तविक सहित ज्ञान की प्रामाणिकता की कसौटियों के निमित्त समस्त मूल प्रश्नों का समाधान प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है।
6. **पाश्चात्य:** प्राचीन यूनान, रोम, मिश्र एवम् बेबिलोन के क्रोड में विकसित ज्ञान-परम्परा की धारा जो निरन्तर सम्पूर्ण यूरोप को प्रभावित करती रही और ज्ञान के तथाकथित विकसित विचार की मापक रेखा से खींची हुए विश्व को विभाजित कर एक विशेष सभ्यता जिसे यूरोपीय सभ्यता के नाम से जाना जाता है, को पाश्चात्य कहने का प्रचलन है। यानि जो सम्पूर्ण ग्लोब के पश्चिमी हिस्से में आ पड़ता हो, उसे पाश्चात्य कहा जाता है।

5.9 सहायक उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. दयाकृष्ण, *पाश्चात्य दर्शन का इतिहास* (जयपुर : तृ० सं० 1993), राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भाग 1.
2. राधाकृष्णन, *एस.ईस्टर्न रिलिजन एण्ड वेस्टर्न थॉट* (नई दिल्ली: 1989), ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. टोला, फरनान्डो एवम् झागोनेट्टी, कारमेन, *इन्डियन एण्ड वेस्टर्न फिलॉस्फीज* (दिल्ली : 2013), मोतीलाल बनारसी दास।
4. कुहन, टी.एस., *दी स्ट्रक्चर ऑफ साइंटिफिक रिवोल्यूशन* (शिकागो: 1962), यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।
5. मार्क्स, जे., *व्हाय आय एम नॉट अ साइंटिस्ट: अंथ्रोपोलॉजी एण्ड मॉडर्न नॉलेज* (बर्कले सी०ए. : 2009), यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस।
6. ओलॉफसन, एफ. ए., *नेचुरलिज्म एण्ड ह्यूमन कंडीशन: अगेन्स्ट साइंटिज्म* (न्यू यार्क : 2001), राउटलेज।

5.10 अभ्यास हेतु प्रश्न

1. पाश्चात्य चिन्तन परम्परा के ऐतिहासिक काल विभाजन पर प्रकाश डालें।
2. प्राचीन पाश्चात्य चिन्तन परम्परा के प्रतिबन्धक तत्त्वों की विवेचना कीजिए
3. मध्य काल के पाश्चात्य प्रतिबन्धक तत्त्वों का वर्णन कीजिए
4. समकालीन पाश्चात्य चिन्तन में प्रतिबन्धक तत्त्वों की विशेषताओं के सम्बन्ध में बतलाइएँ
5. प्रतिबन्धक तत्त्वों के आलोक में पाश्चात्य चिन्तन या ज्ञान की परम्परा की समीक्षा कीजिए।